आठवाँ अध्याय

दिल्ली सल्तनत के अधीन शासन और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन

बारहवीं सदी के अंतिम वर्षों में उत्तर भारत में तुर्कों द्वारा स्थापित राज्य धीरे-धीरे एक शक्तिशाली और अत्यंत केंद्रीकृत राज्य के रूप में उभर आया और कुछ समय तक लगभग पूरे देश पर, दक्षिण में मदुरै तक के प्रदेशों पर, उसका नियंत्रण कायम रहा। उसका विघटन पंद्रहवीं सदी के आरंभ में हुआ, जिसके बाद देश के विभिन्न हिस्सों में कई स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए। लेकिन दिल्ली सल्तनत की शासन प्रणाली का उनमें से कई पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। और सोलहवीं सदी में विकसित होने वाला मुग़ल प्रशासन भी उस शासन प्रणाली से प्रभावित हुआ।

सुल्तान

यद्यपि भारत के कई तुर्क सुल्तानों ने अपने को सच्चे मुसलमानों, अर्थात् बगदाद के अब्बासी ख़लीफ़ा का प्रतिनिधि घोषित किया और शुक्रवार की प्रार्थना के खुत्बे में इसके नाम को भी शामिल किया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ख़लीफ़ा भारत का कानूनी शासक बन गया था। ख़लीफ़ा की स्थिति मात्र नैतिक थी। उसकी सर्वोच्च स्थिति की घोषणा करके सुल्तान सिर्फ़ यह ऐलान कर रहे थे कि वे इस्लामी दुनिया का अंग हैं।

सल्तनत में सुल्तान का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण था और सर्वोच्च राजनीतिक, सैनिक सत्ता और कानूनी सत्ता भी उसी में निहित थी। वह राज्य की सुरक्षा और हिफ़ाज़त के लिए ज़िम्मेदार था। इस तरह वह प्रशासन के लिए भी ज़िम्मेदार था और सल्तनत की सेना का प्रधान सेनापति था। कानून और न्याय की व्यवस्था करना भी उसी का दायित्व था। इस कार्य के लिए वह न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। उसके किसी भी पदाधिकारी के अन्याय के ख़िलाफ़ उससे सीधे अपील की जा सकती थी। न्याय करना किसी भी शासक का अत्यंत महत्वपूर्ण दायित्व माना जाता था। यह हम देख चुके हैं कि बलबन कितनी सख़्ती से न्याय करता था और किस तरह वह रिश्तेदारों या ऊँचे अधिकारियों के साथ भी मुरव्वत नहीं बरतता था। मुहम्मद तुग़लक

ने इस मापदंड को उलेमाओं पर भी लागू किया जबकि पहले ये लोग कठोर दंड से मुक्त थे।

मुसलमान शासकों में उत्तराधिकार का कोई स्पष्ट नियम विकसित नहीं हुआ। इस्लामी कानून में शासक के चुनाव की व्यवस्था थी, लेकिन व्यावहारिक स्थिति यह थी कि सफल शासक के पुत्र के उत्तराधिकार को स्वीकार कर लिया जाता था परंतु गद्दी पर शासक के सभी पुत्रों को बराबरी का दावेदार माना जाता था। ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार का सिद्धांत न तो मुसलमानों को और न हिंदुओं को ही पूर्ण रूप से स्वीकार्य था। कुछ शासकों ने अपने किसी एक बेटे को, और ज़रूरी नहीं कि सबसे बड़े बेटे को ही, अपना उत्तराधिकारी नामज़द करने की कोशिश अवश्य की। बल्कि इल्तुतमिश ने तो अपने बेटों के मुकाबले अपनी बेटी को नामज़द किया। लेकिन ऐसी नामज़दगी को स्वीकार करना या न करना अमीरों पर निर्भर था। यद्यपि मुसलमान आम तौर पर वैध उत्तराधिकारी के हक को स्वीकार करते थे, तथापि ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी जिससे किसी सफल और शक्तिशाली सैनिक नेता को गद्दी पर जबरन कब्ज़ा करने से रोका जा सकता हो। सल्तनत काल में ऐसे लोगों ने कई बार गद्दी हड़प ली। इस प्रकार गद्दी हासिल करने में सैनिक शक्ति मुख्य निर्णायक तत्व थी। परंतु लोकमत की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। बलबन ने उत्तराधिकारियों को अपदस्थ करने के बाद एक लंबे अर्से तक खलजी लोकमत के भय से दिल्ली में प्रवेश करने की हिम्मत नहीं कर पाए, बल्कि उन्होंने दिल्ली के निकट सिरी में एक नया शहर बसा लिया।

केंद्रीय प्रशासन

सुल्तान की मदद के लिए कई मंत्री होते थे, जिनका चयन वह खुद करता था और जिनका पदासीन रहना या न रहना उसकी मर्ज़ी पर निर्भर करता था। इन मंत्रियों की संख्या, इनके अधिकारों और कर्तव्यों में समय-समय पर अंतर आता रहता था। प्रशासन की एक सुनिश्चित प्रणाली का विकास तेरहवीं सदी के अंत तक हो पाया। प्रशासन में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति वज़ीर होता था। आरंभिक काल में वज़ीर मुख्य रूप से सैनिक नेता होते थे। चौदहवीं सदी में वज़ीर को सबसे बढ़कर राजस्व के मामलों का विशेषज्ञ माना जाने लगा। इस प्रकार वह एक विस्तृत विभाग का प्रधान बन गया जिसमें आय और व्यय - दोनों का प्रबंध किया जाता था। मुहम्मद तुगलक ने राजस्व विभाग के संगठन की ओर खास ध्यान दिया। उसके वज़ीर ख्वाजा जहाँ का बहुत आदर था। जब मुहम्मद विद्रोहों को दबाने के लिए बाहर जाता था तब राजधानी को उसी की ज़िम्मेदारी पर छोड़ जाता था। वज़ीर के अधीन एक अलग महालेखा परीक्षक व्यय की जाँच-पड़ताल का काम करता था और महालेखाकार आय की निगरानी करता था। यद्यपि विभिन्न अफ़सरों के बीच के झगड़ों से विभाग के कामकाज में बाधा पड़ती थी, लेकिन इसके बावजूद मुहम्मद तुगलक के अधीन राजस्व विभाग ने मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद से भारत में स्थापित साम्राज्य के इन सबसे बड़े मामलों को सँभालने वाले एक विभाग के रूप में कामयाबी हासिल की। फ़िरोज़ तुगलक ने इस्लाम में धर्मांतरित एक तैलंग ब्राह्मण खान-ए-जहाँ जो उनके पुराने वज़ीर का प्रतिनिधि था, को अपना वज़ीर बनाया था। राजस्व विभाग में उसका पूरा वर्चस्व

था। 18 साल के लंबे अर्से तक की उसकी वज़ारत को आम तौर पर वज़ीर के प्रभाव की चरमसीमा माना जाता है। फ़िरोज़ ने शासकीय पदों और इकता को वंशानुगत बना देने की नीति अपनाई थी जिसके अनुसार खान-ए-जहाँ के बाद उसका पुत्र द्वितीय खान-ए-जहाँ वज़ीर बना। फिरोज़ की मृत्यु के बाद खान-ए-जहाँ द्वितीय ने चाहे जिसको राजपद पर बैठा देने वाले व्यक्ति (किंग-मेकर) की भूमिका निभाने की कोशिश की, लेकिन इस कोशिश में उसकी नाकामयाबी के बाद वज़ीर के पद की प्रतिष्ठा को बहुत आँच आई। इस पद को अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर मुगलों के अधीन ही प्राप्त हो पाई।

वज़ीर के विभाग के बाद राज्य का सबसे महत्वपूर्ण महकमा दीवान-ए-अर्ज़ या सैन्य विभाग था। इस विभाग के प्रधान को आरिज़-ए-ममालिक कहा जाता था। आरिज़ प्रधान सेनाध्यक्ष नहीं था क्योंकि सारे सैन्यबलों की कमान खुद सुल्तान के हाथ में थी। वह ऐसा युग था जब राजा यदि सैन्य बलों की प्रधान कमान किसी और व्यक्ति को सौंप देता तो उसका राजपद पर बने रहना मुश्किल हो जाता। सैनिकों की भर्ती करना, उन्हें सभी तरह से सज्जित करना और उनका वेतन देना आरिज़ के विभाग की मुख्य ज़िम्मेदारी थी। भारत में आरिज़ के एक अलग विभाग की स्थापना सर्वप्रथम बलबन ने की। वह और बाद में अलाउद्दीन इस विभाग के कामकाज पर खास नज़र रखता था। अलाउद्दीन का आग्रह सैनिकों की नियमित हाज़िरी पर था। उसने घोड़ों को दागने का चलन भी आरंभ किया ताकि सिपाही घटिया दर्जे के घोड़े सेना में न ला सकें। प्रत्येक सैनिक के विवरण की भी एक सूची रखी जाती थी। सेना को देश के विभिन्न भागों में तैनात किया जाता था और एक विशाल टुकड़ी राजधानी में सुल्तान के साथ रहती थी। शिकार के नाम पर सेना को लंबे-लंबे कूचों पर ले जाकर बलबन उसे चुस्त-दुरुस्त हालत में रखता था। दिल्ली के सुल्तानों में से अलाउद्दीन के पास सबसे बड़ी स्थायी सेना थी। बरनी के अनुसार उसके सैनिकों की संख्या 3,00,000 थी, लेकिन यह संख्या अतिरंजित मालूम होती है। अलाउद्दीन पहला सुल्तान था जिसने सभी सैनिकों को पूरा वेतन नकद अदा करना शुरू किया। इसके पूर्व तुर्क सिपाहियों को उनके वेतन के एवज़ में दोआब में बहुत-से गाँव सौंप दिए गए थे। इन सैनिकों ने इन गाँवों पर अपने हक को वंशानुगत मानना शुरू कर दिया था और चाहे उनमें से काफी लोग इतने बूढ़े हो गए थे कि सैनिक सेवा के लायक नहीं रह गए थे, फिर भी वे अपने पद छोड़ने को तैयार नहीं थे। बलबन ने इन गाँवों को वापस लेने की कोशिश की, लेकिन इन सैनिकों के आंदोलन खड़ा कर देने और अपने पुराने मित्र दिल्ली के कोतवाल के समझाने-बुझाने पर बाद में उसने अपने आदेश में संशोधन कर दिया। लेकिन अलाउद्दीन ने कलम के एक ही झटके में इन गाँवों पर सैनिकों के हकों को समाप्त कर दिया। वह प्रत्येक घुड़सवार को सालाना 238 टंका देता था और जो दो घोड़े रखता था उसे 78 टंके और देता था। मंगोल हमलों पर अंकुश लगाने और साथ ही दकन को जीतने में अलाउद्दीन की कामयाबी का मुख्य कारण उसकी सेना की चुस्ती और कुशलता थी।

तुर्क शासक बड़ी संख्या में हाथी भी रखते थे,

जो युद्ध के लिए खास तौर से प्रशिक्षित होते थे। सेना के साथ सफर-मैनों (सैपर्स) और खोदने-पाटने का काम करने वालों (माइनर्स) की एक टुकड़ी भी होती थी। ये लोग सेना के कूच के लिए रास्ता बनाने और रास्ते की बाधाओं को दूर करने का काम करते थे। घुड़सवार सेना में तुर्कों और अफगानों की प्रधानता थी। इस सेना की खास प्रतिष्ठा थी। गजनवियों के काल में हिंदुओं को घुड़सवार और पैदल – दोनों सेनाओं में भरती किया जाता था। बाद के काल में उन्हें सेना में काम तो दिया जाता रहा, लेकिन मुख्य रूप से पैदल सेना में।

राज्य के दो और भी महत्वपूर्ण विभाग थे – दीवान-ए-रिसालत और दीवान-ए-इंशा। इनमें से पहला विभाग धार्मिक मामलों, धार्मिक संस्थानों, सुपात्र विद्वानों और धर्मतत्वज्ञों को दिए जाने वाले अनुदानों का कामकाज सँभालता था। उसका सर्वोच्च अधिकारी आला सदर होता था जो आम तौर पर कोई प्रमुख काज़ी हुआ करता था। सामान्यतः वही आला काज़ी न्याय विभाग का प्रधान होता था। काज़ियों को साम्राज्य के विभिन्न भागों में, खास तौर से जहाँ मुसलमानों की बड़ी आबादी होती थी उन स्थानों में, नियुक्त किया जाता था। काज़ी दीवानी मुकदमों का फ़ैसला शरीअत (मुस्लिम कानून) के अनुसार करते थे। हिंदुओं पर उनके अपने वैयक्तिक कानून लागू होते थे। हिंदुओं के मामले में इन कानूनों के अनुसार न्याय करने का काम गाँवों में पंचायतें करती थीं और शहरों में अलग-अलग जातियों के मुखिया। फौजदारी कानून शासकों द्वारा समय-समय पर बनाए गए नियमों पर आधारित होते थे।

दीवान-ए-इंशा राज्य में पत्रव्यवहार के कागकाज की देखरेख करता था। सुल्तान और अन्य देशों के शासकों के बीच तथा सुल्तान और उसके अधीनस्थ अधिकारियों के मध्य चलने वाले सभी औपचारिक और गोपनीय पत्रव्यवहार को यही विभाग सँभालता था।

इनके अलावा कई और विभाग भी हुआ करते थे। सुल्तान साम्राज्य के विभिन्न भागों में जासूसी करने वाले एजेंट रखते थे, जिन्हें बरीद कहा जाता था। ये लोग सुल्तान को सारी घटनाओं से अवगत रखते थे। सुल्तान का पूर्ण विश्वासभाजन और कुलीन व्यक्ति ही मुख्य बरीद के पद पर नियुक्त किया जाता था। राज्य का एक अन्य विभाग सुल्तान की गृहस्थी की व्यवस्था सँभालता था। इस विभाग का काम सुल्तान की व्यक्तिगत सुख-सुविधा का ध्यान रखना और उसकी गृहस्थी में भारी संख्या में शरीक स्त्रियों की ज़रूरतें पूरी करना था। यही विभाग कारखाना कहे जाने वाले उन बहुत सारे भंडारों की भी देखरेख करता था जिनमें राजा और गृहस्थी की ज़रूरत का सामान और चीज़ें रखी जाती थीं। कभी-कभी ये चीज़ें शाही देखरेख में भी बनवाई जाती थीं। फ़िरोज़ तुगलक ने गुलामों का एक अलग विभाग खोला था। इनमें से बहुत से गुलाम इन शाही "कारखानों" में नियुक्त किए गए थे। इन तमाम गतिविधियों की देखरेख करने के लिए ज़िम्मेदार अधिकारी को वकील-ए-दर कहा जाता था। दरबार में शिष्टाचार का निर्वाह उसी का दायित्व था। औपचारिक समारोहों में कौन अमीर अपनी औकात के मुताबिक कहाँ बैठेगा, इसका इंतज़ाम भी वही करता था। फिरोज ने सार्वजनिक कार्यों के लिए भी एक महकमा खोला।

इस विभाग ने कई नहरें और सार्वजनिक इमारतें बनवाईं।

स्थानीय प्रशासन

जब तुर्कों ने इस देश को जीता तो इसे कई प्रदेशों में बाँट दिया था जो इक्ता कहे जाते थे। इन इक्तों को प्रमुख तुर्क अमीरों के हवाले कर दिया गया। जिन अमीरों को इक्ता दिए गए थे उन्हें मुक्ती या वली कहा जाता था। ये प्रदेश ही बाद में प्रांत या सूबा बन गए। आरंभ में मुक्ती लगभग स्वतंत्र हुआ करते थे। उनसे अपने-अपने प्रदेश में शांति-सुव्यवस्था कायम रखने और सरकार को देय भूराजस्व वसूल करने की आशा की जाती थी। वे इस तरह जो धन इकट्ठा करते थे उसमें से सिपाहियों के वेतन अदा करके बाकी वे अपने पास रख सकते थे। लेकिन ज्यों-ज्यों केंद्रीय शासन शक्तिशाली और अनुभवी होता गया त्यों-त्यों उसने मुक्तियों पर अधिक नियंत्रण स्थापित करना शुरू कर दिया। उसने वास्तविक आय का पता लगाने और सिपाहियों तथा मुक्तियों के वेतन निर्धारित करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया। अब मुक्ती से यह आशा की जाने लगी थी कि खर्चा पूरा करके जो रकम बचे उसे वह केंद्र को भेज दे। दो-दो साल के अंतराल से की जानेवाली हिसाब-किताब की जाँच के समय मुक्तियों को अक्सर काफ़ी सख्ती झेलनी पड़ती थी और कभी-कभी तो बेईमान मुक्तियों को जेल में भी डाल दिया जाता था। सल्तनत के अंतिम दौर में फिरोज तुगलक ने इस तरह की सख्ती बंद करा दी।

सूबे के नीचे शिक और शिक के नीचे परगना होता था। इन इकाइयों की व्यवस्था के संबंध में हमें खास जानकारी नहीं है। स्रोतों से मालूम होता है कि गाँव सौ-सौ या चौरासी-चौरासी की इकाइयों (चौरासी गाँवों की इकाई एक पारंपरिक व्यवस्था थी) में संगठित थे। गाँव के सबसे महत्वपूर्ण लोग खूत (भूस्वामी) और मुकद्दम (मुखिया) थे। हमें गाँव के पटवारी के बारे में भी जानकारी है। लेकिन यह मालूम नहीं है कि गाँव की व्यवस्था ठीक-ठीक कैसे की जाती थी। जब तक उसके लिए देय भूराजस्व वह अदा करता रहता था तब तक उसके मामलों में शायद हस्तक्षेप नहीं किया जाता था।

आरंभ में स्थानीय स्तर के प्रशासन में शायद ही कोई परिवर्तन किया गया हो। भूराजस्व की वसूली पुराने तरीके से कमोबेश पुराने लोगों द्वारा ही की जाती रही। ग्रामीण क्षेत्रों में शीघ्र ही अपनी सत्ता स्थापित कर लेने में तुर्कों की सफलता का एक कारण यह बात भी थी। हमने जिन परिवर्तनों का उल्लेख किया है उनकी शुरुआत चौदहवीं सदी के आरंभ में अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल में हुई। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप तनावों और संघर्षों का जन्म हुआ और किसानों में भी अशांति फैली।

आर्थिक और सामाजिक जीवन

दिल्ली सल्तनत के अधीन लोगों की आर्थिक अवस्था के संबंध में हमें बहुत कम जानकारी है। समकालीन इतिहासकारों की रुचि आम लोगों की ज़िंदगी की बजाय दरबार की घटनाओं में अधिक थी। लेकिन उनसे कभी-कभी चीज़ों की कीमतों के बारे में जानकारी अवश्य मिलती है। उत्तर अफ्रीका में टैंजियर का निवासी इब्न बतूता चौदहवीं सदी में

भारत आया था। वह मुहम्मद तुगलक के दरबार में आठ वर्षों तक रहा। उसने पूरे देश की यात्रा की। वह भारत की उपजों के बारे में काफी दिलचस्प विवरण छोड़ गया है। इन उपजों में फल-फूल और जड़ी-बूटियाँ भी शामिल हैं। इससे हमें सड़कों की अवस्था और लोगों के जीवन के बारे में भी जानकारी मिलती है। इसके अलावा कुछ और भी जानकारी हासिल होती है। इन यात्रियों ने जिन खाद्यानों तथा अन्य फसलों और फल-फूलों का उल्लेख किया है उनसे हम परिचित हैं। इब्नबतूता कहता है कि भारत की मिट्टी इतनी उपजाऊ है कि साल में दो-दो फसलें उगाई जाती हैं और चावल की तो तीन-तीन फसलें पैदा की जाती हैं। उसके अनुसार अलसी, गन्ना और कपास भी पैदा की जाती थी। ये फसलें ग्रामोद्योगों के आधार का काम करती थीं। ये उद्योग थे - कोल्हू में तेल पेरना, गुड़ बनाना, बुनाई करना आदि।

किसान और ग्रामीण भद्रजन

पहले की ही तरह देश की आबादी में ज्यादातर लोग किसान थे। वे पूर्ववत् कड़ी मेहनत करके किसी तरह गुज़ारे के लायक कमाते रहे। देश के विभिन्न भागों में आए दिन अकाल पड़ते रहते थे और युद्ध होते रहते थे, जिससे किसानों की मुसीबतें और भी अधिक बढ़ गई थीं।

वैसे सभी किसान निर्वाह-स्तर पर ही नहीं जीते थे। खूतों और मुकद्दमों के जीवन का स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा था। अपनी जोतों के अलावा उनके पास और भी ज़मीन होती थी जिस पर वे रियायती दरों से राजस्व अदा किया करते थे। कभी-कभी वे अपने पद का दुरुपयोग करते हुए साधारण किसानों को अपने हिस्से का भी राजस्व अदा करने को मजबूर कर देते थे। इन लोगों के पास इतने साधन थे कि वे अपनी सवारी के लिए कीमती अरबी और इराकी घोड़े रख सकते थे, नफ़ीस कपड़े पहन सकते थे और उच्च वर्गों के लोगों जैसा व्यवहार कर सकते थे। जैसा कि हम देख चुके हैं, अलाउद्दीन ने उनके खिलाफ सख्त कदम उठाए और उनके विशेषाधिकारों को खत्म कर दिया। तब भी उनके जीवन का स्तर किसानों की अपेक्षा बहुत ऊँचा रहा। मालूम होता है, अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उन्होंने फिर से अपने पुराने तौर-तरीके अपना लिए थे।

जीवन-स्तर का उपभोग करने वाला एक वर्ग रायों या स्वायत्त हिंदू राजाओं का था। इनमें से बहुत-से लोग अपनी पुरानी मिल्कियतों को कायम रखने में कामयाब रहे थे। हिंदू रायों के बलबन के दरबार में हाजिर होने के कई उल्लेख मिलते हैं। इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है कि दिल्ली के सुल्तान के प्रत्यक्ष नियंत्रण वाले क्षेत्रों में भी ये हिंदू राय काफी शक्तिशाली बने रहे।

व्यापार, उद्योग और व्यापारी

जब दिल्ली सल्तनत सुदृढ़ आधार पर स्थित हो गई और संचार की बेहतर सुविधाएँ कायम हो गईं एवं चाँदी की टंके और ताँबे के दिरहम पर आधारित एक ठोस मुद्रा प्रणाली स्थापित हो गई तो देश में व्यापार का भी निश्चित विकास हुआ। इसके साथ ही शहरों और शहरी जीवन की भी अभिवृद्धि हुई। इब्नबतूता ने दिल्ली को इस्लामी दुनिया के पूर्वी हिस्से का सबसे बड़ा नगर कहा है। उसका

कहना है कि फैलाव की दृष्टि से दौलताबाद (देवगीर) दिल्ली के बराबर था। यह बात उत्तर और दक्षिण-भारत के बीच व्यापार के विकास की सूचक है। उस काल के अन्य महत्वपूर्ण नगरों में उत्तर-पश्चिम में लाहौर और मुल्तान, पूर्व में कड़ा और लखनौती तथा पश्चिम में अनहिलवाड़ा (पाटन) और कैंबे (खंबायत) थे। एक आधुनिक इतिहासकार का कहना है कि "कुल मिलाकर सल्तनत एक फूलती-फलती शहरी अर्थव्यवस्था की तस्वीर पेश करती है।" ऐसी अर्थव्यवस्था के लिए बड़े पैमाने पर वाणिज्य-व्यापार आवश्यक रहा होगा। बंगाल और गुजरात के शहर अपने उत्तम कपड़ों और सोने तथा चाँदी के काम के लिए प्रसिद्ध थे। बंगाल का सोनारगाँव अपने कच्चे रेशम और मलमल के लिए विख्यात था। और भी कई दस्तकारियाँ फल-फूल रही थीं- जैसे चर्मकारी, धातुकर्म, गलीचों की बुनाई, लकड़ी का काम, फर्नीचर बनाना, पत्थर तराशना जिसके लिए भारतीय शिल्पकार प्रसिद्ध थे। तुर्कों ने कई नई दस्तकारियाँ भी शुरू करवाईं। इनमें से एक था कागज़ बनाने का काम। कागज बनाने की विधि का आविष्कार दूसरी सदी में चीनियों ने किया था। पाँचवीं सदी में अरब संसार उससे अवगत था और यूरोप में यह कला बहुत आगे चलकर चौदहवीं सदी में पहुँची।

चरखे का चलन आरंभ होने से कपड़े के उत्पादन में बहुत सुधार हुआ। धुनकी की सहायता से कपास को तेजी से और ज्यादा अच्छी तरह साफ किया जा सकता था लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि सबसे महत्वपूर्ण भारतीय कारीगरों की कुशलता थी। लालसागर और फारस की खाड़ी के आसपास के देशों के साथ होने वाले व्यापार में भारतीय कपड़े की धाक पहले ही जम चुकी थी। इस काल में उत्तम कोटि का भारतीय वस्त्र चीन को भी निर्यात किया जाने लगा। वहाँ इसकी कीमत रेशमी कपड़े से भी ज्यादा थी। भारत पश्चिम एशिया से उच्च कोटि के कुछ कपड़े (साटन वगैरह), काँच के बर्तनों और घोड़ों का आयात करता था। भारत चीन से कच्चा रेशम और चीनी मिट्टी के बर्तन मँगवाता था।

जल और थल दोनों मार्गों से चलने वाला भारत का व्यापार सचमुच एक अंतर्राष्ट्रीय उद्यम था। यद्यपि हिंद महासागर के रास्ते होने वाले व्यापार में अरब लोग सबसे बड़े साझेदार थे, लेकिन वे भारत के तमिल और गुजराती व्यापारियों को, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे, इस मार्ग से होने वाले व्यापार के क्षेत्र से उखाड़ नहीं पाए थे। तटवर्ती व्यापार तथा तटवर्ती बंदरगाहों और उत्तर भारत के बीच होनेवाला व्यापार मारवाड़ियों और गुजरातियों के हाथों में था जिनमें से बहुत सारे लोग जैन थे। इस व्यापार में मुसलमान बोहरा व्यापारियों की हिस्सेदारी थी। मध्य और पश्चिमी एशिया के साथ थल मार्ग से होने वाला व्यापार मुल्तानियों (ज़्यादातर हिंदू) और खुरासानियों (अफगान, ईरानी आदि) के हाथों में था। इनमें से बहुत-से व्यापारी दिल्ली में बस गए थे। गुजराती और मारवाड़ी व्यापारी बहुत धनाढ्य थे और उनमें से कुछ ने, खास तौर से जैनों ने, मंदिरों के निर्माण पर बहुत-सा धन खर्च किया। कैंबे एक बड़ा नगर था जिसमें बहुत से समृद्ध व्यापारी रहते थे। उनके पास सुंदर पत्थरों और गारे से बने ऊँचे-ऊँचे महल थे जिनकी छतें अच्छी किस्म की खपरैलों से बनी हुई थीं। उनके घरों के चारों ओर फलों के सुंदर बगीचे होते थे जिनमें कई तालाब भी बने होते थे। ये संपन्न व्यापारी और

कुशल कारीगर ऐशो-आराम की जिंदगी बिताते थे और अच्छा खाने-पहनने के अभ्यस्त थे। हिंदू और मुसलमान, दोनों कौमों के व्यापारियों की सेवा में कई-कई अनुचर होते थे जो सोने-चाँदी के काम की गई तलवारों से सज्जित रहते थे। दिल्ली के हिंदू व्यापारी कीमती साज़ों से सजे घोड़ों की सवारी करते थे, शानदार इमारतों में रहते थे और तड़क-भड़क के साथ अपने त्यौहार मनाते थे। बरनी बताता है कि मुल्तानी व्यापारी इतने समृद्ध थे कि उनके घर सोने-चाँदी से भरे होते थे और उधर अमीर लोग इतने शाह-खर्च थे कि जब भी वे कोई भोज या समारोह आयोजित करना चाहते थे, उन्हें पैसा उधार लेने के लिए मुल्तानियों के घर भागना पड़ता था।

चोर-डाकुओं और लुटेरे कबीलों के कारण उन दिनों यात्रा करना हमेशा खतरनाक होता था। फिर भी राजमार्ग को अच्छी हालत में रखा जाता था और यात्रियों की सुरक्षा तथा सुविधा के लिए उन पर जगह-जगह सराये बनी होती थीं। पेशावर से सोनारगाँव तक पहुँचने वाले राजमार्ग के अलावा मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली से दौलताबाद तक एक सड़क बनवाई। देश के एक भाग से दूसरे भाग तक तेज़ी से डाक पहुँचाने की भी व्यवस्था थी। यह काम डाक को मंज़िल-दर-मंज़िल ले जाने वाले अलग-अलग घोड़ों या हरकारों द्वारा किया जाता था। हरकारे लोग कुछ-कुछ किलोमीटरों की दूरी पर डाक-व्यवस्था के लिए खास तौर से बनाए गए मकानों पर बैठे रहते थे और पिछले पड़ाव से कोई हरकारा इन तक पहुँचता नहीं था कि उसे वहीं छोड़ डाक लेकर वे अगली मंज़िल के लिए आनन-फानन में भाग पड़ते थे। हरकारा दौड़ते समय हमेशा एक घंटी बजाता रहता था ताकि अगली मंज़िल पर बैठे आदमी को उसके आगमन की आहट लग जाए और वह डाक लेकर आगे जाने को तुरंत तैयार हो जाए। कहते हैं, इसी व्यवस्था से सुल्तान के लिए खुरासान से ताज़ा फल मँगवाए जाते थे। जब मुहम्मद तुगलक दौलताबाद में था (जहाँ दिल्ली से पहुँचने में चालीस दिन लगते थे) इन्हीं हरकारों द्वारा उसके पीने के लिए रोज़ गंगाजल ले जाया जाता था।

संचार व्यवस्था में सुधार होने और जल तथा थल – दोनों मार्गों से व्यापार की वृद्धि होने से इस काल में आर्थिक जीवन में तेज़ी आई। तुर्कों ने कई नए शिल्प और तकनीकें आरंभ कीं या पुराने शिल्पों और तकनीकों को लोकप्रिय बनाया। लोहे की रकाबों के इस्तेमाल का ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं नए शासकों द्वारा हल्की तथा भारी – दोनों तरह की घुड़सवार सेनाओं के सवारों एवं घोड़ों – दोनों के लिए कवचों के व्यापक उपयोग का भी उल्लेख किया जा चुका है। इससे धातु उद्योग और धातु-शिल्प को बढ़ावा मिला।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण रहट (जिसे अंग्रेज़ी में पर्शियन व्हील या फ़ारसी चक्र की गलत संज्ञा दी गई है) में हुआ सुधार था। अब सिंचाई के लिए ज़्यादा गहराई से पानी निकाला जा सकता था। कागज़ बनाना, शीशा बनाना, चरखा और सुधरे किस्म का करघा नए-नए शुरू हुए सुधरे शिल्पों के अन्य उदाहरण थे।

शिल्पों में सुधार के उदाहरण के रूप में बेहतर किस्म के गारे का भी उल्लेख किया जा सकता है। इससे तुर्कों के लिए मेहराब और गुंबदवाली शानदार इमारतें बनवाना संभव हुआ। इनमें से

सभी शिल्प नए नहीं थे। लेकिन भारतीय शिल्पियों के विख्यात कौशल के आधार पर उनमें जो सुधार हुए और जिस तरह से उनका प्रसार हुआ वह और कृषि का विकास - ये दो सबसे महत्वपूर्ण बातें थीं जिनके कारण चौदहवीं सदी का उत्तरार्ध विकास और तुलनात्मक समृद्धि का युग बन पाया।

सुल्तान और अमीर

सुल्तान तथा उसके प्रमुख अमीरों का जीवन-स्तर ऐसा था जिसकी तुलना उस काल की दुनिया के उच्चतम जीवन स्तर से, अर्थात् पश्चिम और मध्य एशिया की इस्लाम की दुनिया के जीवन-स्तर से की जा सकती थी। यूरोप अब भी अपने पिछड़ेपन के दलदल से निकलने की कोशिश कर रहा था, लेकिन इस्लामी दुनिया की समृद्धि और संपत्ति विस्मयकारी थी। उसने एक ऐसा स्तर स्थापित किया जिसका अनुकरण करने का प्रयत्न हर देश में किया जाता था। हिंदू शासकों की तरह ही लगभग प्रत्येक सुल्तान अपने लिए नया राजमहल बनवाता था। बलबन का दरबार बहुत ही भड़कीला और शानदार था। उसकी रचना इस तरह की गई थी जिससे देखने वाले के मन में भय और विस्मय का भाव जगे। अलाउद्दीन और उसके उत्तराधिकारियों ने इसी परंपरा का निर्वाह किया। मुहम्मद तुगलक के राजमहल का वर्णन इब्नबतूता ने किया है। सुल्तान से मिलने आने वाले व्यक्ति को तीन ऊँचे-ऊँचे द्वारों से होकर गुज़रना पड़ता था। इन द्वारों पर बड़ी संख्या में पहरेदार तैनात रहते थे। इन सबको पार करके वह "हज़ार स्तंभों वाले दरबार" में प्रवेश करता था। उसका दरबार एक विशाल कक्ष था, जो लकड़ी के स्तंभों पर बना हुआ था और कीमती सामग्री तथा उपकरणों से सज्जित था। सुल्तान अपना दरबार-ए-आम यहीं लगाता था।

मुहम्मद तुगलक अपने अमीरों को हर साल दो नई पोशाकें दिया करता था – एक सर्दी के मौसम में और दूसरी ग्रीष्म ऋतु में। अनुमान लगाया गया है कि इस तरह वह हर साल 2,00,000 पोशाकें बाँटता था। ये पोशाकें आम तौर पर आयात किए गए मखमल, दमस्क या ऊन की बनी होती थीं और उन पर ज़री के कीमती सुंदर काम किए होते थे। उनपर निश्चय ही बहुत बड़ी रकमें खर्च की जाती होंगी। सुल्तान के जन्म-दिन, नौरोज़ (ईरानी नव-वर्ष) और गद्दीनशीनी की वर्षगाँठ जैसे अवसरों पर अमीरों तथा दूसरे लोगों को ढेर सारे भेंट-उपहार दिए जाते थे।

हमने ऊपर शाही कारखानों का ज़िक्र किया है। ये कारखाने सुल्तान की सारी ज़रूरतें पूरी करते थे। वे रेशम, सोने, चाँदी आदि से बेशकीमती चीज़ें बनाते थे। वे चुनिंदा और दुर्लभ वस्तुओं के लिए भंडारों का भी काम देते थे। फिरोज तुगलक ने कारखानों के अधीक्षकों को आदेश दिया था कि उन्हें नफ़ासत के साथ बनी उत्तम कोटि की चीज़ें चाहे जहाँ और जिस दाम पर मिलें, खरीद लें। कहा जाता है कि एक बार सुल्तान को एक ही जोड़े जूते के लिए 70,000 टके की भारी कीमत चुकानी पड़ी थी। शाही इस्तेमाल की ज़्यादातर चीज़ों पर सोने-चाँदी और जवाहरात के काम किए होते थे। ये कारखाने शाही हरम में रहने वाली औरतों की ज़रूरतें भी पूरी करते थे। लगभग हर सुल्तान का एक हरम होता था जिसमें रानियाँ और विभिन्न देशों की बहुत सारी गुलाम लड़कियाँ रहती थीं। उनकी सुरक्षा और

सुविधा के लिए बड़ी संख्या में नौकर-चाकर और दास-दासियाँ रखी जाती थीं। सुल्तान की माँ, चाची और अन्य सभी रिश्तेदार स्त्रियाँ भी हरम में ही रहती थीं। इनमें से प्रत्येक के रहने के लिए अलग व्यवस्था करनी पड़ती थी।

आडंबरयुक्त रहन-सहन के मामले में अमीर लोग सुल्तान की नकल करने की कोशिश करते थे। उनके रहने के लिए शानदार महल होते थे। उनकी पोशाकें कीमती कपड़ों से बनी होती थीं जिसमें ज़री के काम किए होते थे। उनके पास बड़ी संख्या में नौकर-चाकर और गुलाम होते थे। वे शानदार भोज देने और उत्सव मनाने में एक-दूसरे से होड़ करते थे। लेकिन कुछ अमीर लोग कलाकारों और विद्वानों की आर्थिक सहायता भी करते थे।

अलाउद्दीन ने अमीरों का सख्ती से दमन किया, लेकिन उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में उनकी शान-शौकत फिर वापस आ गई। तुगलक शासनकाल में अमीरों ने अपना पूरा वर्चस्व स्थापित कर लिया। साम्राज्य के कुल विस्तार के कारण मुहम्मद तुगलक अमीरों को मोटी-मोटी तनख्वाहें और भत्ते देने लगा। एक स्रोत से मालूम होता है कि उसके वज़ीर की आय ईराक प्रांत की आय के बराबर थी। अन्य मंत्रियों को 20,000 से 40,000 टंके सालाना मिलते थे। आला सदर को 60,000 टंके सालाना दिए जाते थे। फ़िरोज़ तुगलक के वज़ीर खान-ए-जहाँ को 15 लाख मिलते थे। उसके बेटों और दामादों को, जिनकी संख्या काफी थी, अलग से भत्ते दिए जाते थे।

फ़िरोज़ तुगलक के शासनकाल में कई अमीर अपने पीछे विशाल धनराशियाँ छोड़ गए। उदाहरण के लिए फिरोज़ का आरिज़-ए-ममालिक बशीर अपनी मृत्यु पर 13 करोड़ टंके की धनराशि छोड़ गया। बशीर मूलतः फिरोज़ का गुलाम था, इस आधार पर उसने उसकी ज़्यादातर संपत्ति जब्त कर ली और बाकी उसके बेटों में बाँट दी। इसे किसी हद तक अफ़वाह माना जा सकता है। आमतौर पर अमीर की संपत्ति सुरक्षित रहती थी और उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटों के हाथों में चली जाती थी। इसी वर्ग के लोग ज़मीन खरीद कर उनमें बाग़-बगीचे लगाते थे और बाज़ार बसाते थे। सुल्तान और उसके अमीर भारत में फलों की, खास तौर से खरबूजे और अंगूर की, किस्मों में सुधार करने में गहरी रुचि लेते थे।

इस प्रकार एक नए ढंग के भूस्वामी श्रीमंतों का वर्ग विकसित होने लगा। पंद्रहवीं सदी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत के बिखराव से यह प्रवृत्ति थम गई।

शहरी जीवन : गुलाम, कारीगर और अन्य

सल्तनत के अधीन शहरों और शहरी जीवन के पुनरुत्थान की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। तुर्क शासकवर्ग तत्वतः शहरी शासक वर्ग था जिसे शहरी जीवन खास तौर से पसंद था। बहुत-से शहरों का उदय सैनिक ठिकानों के इर्द-गिर्द हुआ। ये शहर सैनिकों के लिए खाद्य-पदार्थ, ज़रूरत की दूसरी चीज़ें और आवश्यक सेवाएँ सुलभ कराते थे। कालांतर से इनमें से कई शहर सांस्कृतिक केंद्रों के रूप में उभरे।

मध्यकालीन शहरों में विविध प्रकार की आबादी हुआ करती थी। इसमें छोटे-छोटे अमीर, सरकारी दफ़्तरों को चलाने में मदद करने के लिए बड़ी संख्या में लिपिक, दुकानदार, कारीगर, भिखारी

आदि शामिल होते थे। लिपिकों तथा छोटे सरकारी अमलों के पद तो साफ हैं कि पढ़ना-लिखना जानने वाले लोगों को देने पड़ते थे। चूँकि शिक्षण का कार्य मुख्य रूप से उलेमाओं के हाथों में था, इसलिए उलेमाओं और छोटे अमलों के विचारों और व्यवहारों में समानता होती थी। ज़्यादातर इतिहासकार इसी वर्ग के लोगों में से उभरते थे इसलिए उनके लेखन में इस वर्ग के विचार और पूर्वाग्रह प्रतिबिंबित हुए हैं। भिखारियों की संख्या बहुत बड़ी थी और सामान्य नागरिकों की तरह वे भी हथियार रखते थे। इसलिए वे भी कभी शांति-सुव्यवस्था के लिए बाधक हो सकते थे।

शहरी आबादी का एक अन्य बड़ा हिस्सा गुलामों और नौकर-चाकरों का था। भारत तथा दूसरे एशियाई देशों और यूरोप में गुलामी प्राचीन काल से ही कायम थी। हिंदू शास्त्रों में अलग-अलग प्रकार के गुलामों का वर्णन हुआ है। कुछ अपने मालिकों के घरों में पैदा गुलाम होते थे तो कुछ खरीदे हुए, कुछ बनाए गए गुलाम होते थे तो कुछ वंशानुगत गुलाम होते थे। गुलामी के चलन को अरबों और बाद में तुर्कों ने भी अपनाया। गुलाम बनाने का सबसे आम तरीका यह था कि लड़ाई में पकड़े गए लोगों को इस स्थिति में डाल दिया जाता था। महाभारत तक में युद्धबंदी को गुलाम बनाना जायज़ समझा गया है। तुर्कों ने भारत में और भारत के बाहर भी बड़े पैमाने पर युद्धबंदियों को गुलाम बनाया। स्त्री और पुरुष गुलामों के लिए भारत और पश्चिम एशिया में बाक़ायदा बाजार हुआ करते थे। तुर्क, काकेसियाई, यूनानी और भारतीय गुलामों की बहुत कीमत थी और लोग उन्हें हासिल करने के लिए उत्सुक रहते थे। थोड़े-बहुत गुलाम अफ्रीका से, मुख्य रूप से अबिसीनिया से, भी मँगवाए जाते थे। गुलाम आम तौर पर घरेलू कामकाज के लिए या साथ देने के लिए या अपने किसी खास कौशल के कारण खरीदे जाते थे। कुशल गुलाम और सुदर्शन लड़के और सुंदर लड़कियाँ कभी-कभी काफी ऊँचे दामों में बिकती थीं। कुशल गुलाम बहुत कीमती होते थे और कभी-कभी वे ऊँचे पदों पर पहुँच जाते थे -जैसे कि कुतुबुद्दीन ऐबक के गुलाम। फिरोज़ तुगलक ने भी गुलामों को काफी महत्व दिया उसने 1,80,000 गुलाम इकट्ठे किए थे। उनमें से बहुतों को तरह-तरह के शिल्पकार्यों में लगाया गया, जबकि काफी सारे गुलाम उसके अंगरक्षक थे। लेकिन गुलामों का सबसे अधिक इस्तेमाल व्यक्तिगत सेवाशुश्रूषा के लिए किया जाता था। ऐसे गुलामों के साथ कभी-कभी कठोर व्यवहार भी किया जाता था। कहा जा सकता है कि गुलाम की स्थिति घरेलू नौकर से बेहतर थी, क्योंकि गुलाम के मालिक के लिए उसके खाने-रहने का बंदोबस्त करना ज़रूरी था, जबकि स्वतंत्र व्यक्ति भूखों मर सकता था। गुलामों को शादी करने की छूट थी और वे थोड़ी-बहुत संपत्ति भी रख सकते थे। फिर भी आम तौर पर माना जाता था कि गुलामी पतनकारी है। हिंदुओं और मुसलमानों - दोनों के बीच गुलाम को आज़ादी देना सत्कार्य माना जाता था।

सल्तनतकाल में शहरी आबादी को खाने-पीने की चीज़ें आम तौर पर सस्ती मिल जाती थीं। अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल में खाद्य-पदार्थों की कीमतों का ज़िक्र हम कर चुके हैं। उसके समय में एक मन (15 किलोग्राम) गेहूँ की कीमत 7½ जीतल थी, इतने ही जौ की 4 जीतल और चावल

का 5 जीतल। 48 जीतल का चाँदी का एक टंका होता था। मुहम्मद तुग़लक के शासनकाल में कीमतों में भारी वृद्धि हुई, लेकिन फ़िरोज़ तुग़लक के समय में वे लगभग अलाउद्दीन के समय वाले स्तर पर आ गईं। हो सकता है, फ़िरोज़ के शासनकाल में कृषि के विस्तार के कारण ऐसा हुआ हो।

शहरों में निर्वाह-व्यय का अनुमान लगा पाना कठिन है। एक आधुनिक इतिहासकार ने हिसाब लगाया है कि फ़िरोज़ के शासनकाल में एक पुरुष, उसकी पत्नी, एक नौकर और एक-दो बच्चों वाले परिवार का निर्वाह प्रतिमास 5 टंकों में होता होगा। इस प्रकार निचले तबके के सरकारी अमले या सिपाही के लिए जीवनयापन सस्ता था। लेकिन यह बात इस तरह शिल्पियों और श्रमिकों पर लागू नहीं होती थी। अकबर के शासनकाल में भी अकुशल श्रमिक की माहवारी कमाई सिर्फ़ ढाई-तीन रुपयों की थी, या शायद इससे भी कम। शिल्पियों और श्रमिकों की आय को देखते हुए शहरों में उनका जीवन कठिन ही रहा होगा।

इस प्रकार मध्यकालीन समाज जबर्दस्त असमानताओं का समाज था। यह बात हिंदुओं से भी ज़्यादा मुस्लिम समाज में दिखाई देती थी। इसका कारण यह था कि हिंदू प्रधानतः गाँवों में रहते थे जहाँ असमानता उतनी ज़्यादा नहीं थी। शहरों में मुसलमान अमीर काफ़ी आडंबरयुक्त जीवन व्यतीत करते थे। कुछ समृद्ध व्यापारी भी, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे, ऐसी ही तड़क-भड़क की ज़िंदगी बिताते थे। शहर हो या गांव, आम लोगों का विशाल समुदाय सादा जीवन जीता था और उसे बहुधा तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। लेकिन उनके जीवन में सिर्फ़ दुःख दैन्य ही नहीं था। अनेक तीज-त्यौहार और मेले-तमाशे उनके जीवन की एकरसता को दूर कर उसमें खुशियाँ भर देते थे।

जाति तथा सामाजिक रीति-रिवाज

इस काल में हिंदू समाज की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस काल के स्मृतिकार पूर्ववत् ब्राह्मणों को ऊँचा स्थान देते रहे, यद्यपि उन्होंने इस वर्ग के अयोग्य सदस्यों की तीव्र निंदा की। एक विचारधारा के अनुसार ब्राह्मणों को न केवल कठिन समय में, बल्कि सामान्य दौर में भी, खेती-बाड़ी करने की इजाज़त थी क्योंकि यज्ञादि में पौरोहित्य करने से कलियुग में गुज़ारे के लायक आमदनी नहीं होती थी।

स्मृतियों में इस बात पर ज़ोर दिया जाता रहा कि दुष्टों को दंडित करना और नेक लोगों की भलाई करना क्षत्रियों का कर्तव्य है। लोगों की रक्षा करने के निमित्त शस्त्र धारण करना केवल उन्हीं का धर्म है। शूद्रों के कर्तव्यों और पेशों के बारे में इस काल में भी कमोबेश वही बातें कही गईं जो पहले कही गई थीं। वैसे शूद्रों का परम कर्तव्य अन्य जातियों की सेवा करना था, किंतु उन्हें मांस और मदिरा के अलावा अन्य सभी धंधे करने की छूट दी गई। शूद्रों द्वारा वेदपाठ पर विरोध अब भी लगा रहा, लेकिन पुराणों के श्रवण पर ऐसी कोई रोक नहीं थी। कुछ स्मृतिकारों का तो कहना है कि न केवल शूद्रों का भोजन ग्रहण करने, बल्कि उनके साथ एक ही घर में रहने, एक ही खाट पर बैठने और विद्वान शूद्रों से धर्मोपदेश प्राप्त करने से भी बचना चाहिए। इसे अतिवादी दृष्टि माना जा सकता है। परंतु चार वर्णों से

बाहर के लोगों और चंडालों के साथ मिलने-जुलने पर सबसे कड़े निषेध लगाए गए।

हिंदू समाज में स्त्रियों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कम उम्र में लड़कियों के विवाह और पति के प्रति पत्नी के लिए सेवा और निष्ठा का विधान करने वाले पुराने नियम यथावत् कायम रहे। पत्नी को छोड़कर भाग जाने, कोई वीभत्स रोग लग जाने आदि कुछ खास परिस्थितियों में विवाह तोड़ा जा सकता था। लेकिन इससे सभी स्मृतिकार सहमत नहीं हैं। कलियुग में जिन प्रथाओं का वर्णन किया गया है उनमें स्त्रियों का पुनर्विवाह भी है। लेकिन ज़ाहिर है कि यह वर्जना ऊपर के तीन वर्णों पर ही लागू होती थी। जहाँ तक सतीप्रथा का संबंध है, कुछ विधि-निर्माता इसकी ज़बर्दस्त हिमायत करते हैं, लेकिन कुछ इसके साथ कुछेक शर्तें जोड़ देते हैं। कई विदेशी यात्रियों ने देश के कई क्षेत्रों में इस प्रथा के चलन के उल्लेख किए हैं। इब्नबतूता ने ढोल-बाजों के कर्णभेदी स्वर के बीच अपने पति की चिता पर पत्नी के जल मरने के दृश्य का वर्णन त्रस्तभाव से किया है। उसके अनुसार सती होने के लिए सुल्तान से अनुमति लेनी पड़ती थी।

धर्मशास्त्रों के टीकाकार संपत्ति के संबंध में पुत्रहीन पति की जायदाद पर पत्नी के अधिकार का समर्थन करते हैं, बशर्ते कि उसकी संपत्ति संयुक्त परिवार की संपत्ति न हो। विधवा न केवल संपत्ति की संरक्षिका थी, बल्कि उसको उसे बेचने या चाहे जैसे भी किसी को दे देने का अधिकार था। इस प्रकार मालूम होता है कि हिंदू कानून में संपत्ति पर स्त्रियों के अधिकार में सुधार हुआ।

इस काल में ऊपरी वर्गों की स्त्रियों में पर्दा प्रथा का व्यापक चलन हुआ। स्त्रियों को दूसरों की वासनामय दृष्टि से दूर रखने की प्रथा उच्च वर्ग के हिंदुओं में प्रचलित थी। यह रिवाज प्राचीन ईरान, यूनान आदि में भी था। ईरानियों, यूनानियों आदि से इस प्रथा को अरबों और तुर्कों ने ग्रहण किया और इसे वे अपने साथ भारत ले आए। उनकी देखादेखी भारत में भी, खास तौर से उत्तर भारत में, पर्दा प्रथा का व्यापक चलन हुआ। पर्दे के चलन के प्रसार का कारण हिंदू स्त्रियों का यह भय बताया गया है कि कहीं हमलावर उन्हें पकड़ न ले जाएँ। हिंसा और मारकाट के युग में यह संभव था कि स्त्रियों को युद्ध में प्राप्त लूट का कीमती माल माना जाए। लेकिन पर्दा प्रथा के फैलने का शायद सबसे महत्वपूर्ण कारण सामाजिक था। यह प्रथा समाज के ऊँचे तबकों की प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गई और जो लोग प्रतिष्ठित माने जाना चाहते थे उन सबने इसे अपनाने की कोशिश की। इसके लिए धार्मिक औचित्य भी ढूंढ निकाला गया। कारण चाहे जो हो, इसका स्त्रियों की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और वे पुरुषों पर और ज़्यादा निर्भर हो गईं।

सल्तनत काल में मुस्लिम समाज नस्ली समूहों में बटा रहा। उसमें व्याप्त प्रबल आर्थिक असमानता का ज़िक्र हम कर चुके हैं। तुर्क, ईरानी, अफ़गान और भारतीय मुसलमानों के बीच कदाचित् ही वैवाहिक संबंध होता हो। सच तो यह है कि इन वर्गों में भी जातियों पर आधारित हिंदुओं वाली अलगाव की प्रवृत्ति आई। हिंदू समाज के निचले तबकों से मुसलमान बने लोगों के खिलाफ़ भी भेदभाव का व्यवहार किया जाता था।

इस काल में हिंदू और मुस्लिम उच्च वर्गों के

बीच खास सामाजिक आदान-प्रदान नहीं था जिसका कारण कुछ तो यह था कि मुस्लिम अपने को श्रेष्ठ मानते थे और कुछ यह कि दोनों के बीच रोटी-बेटी के संबंधों पर धार्मिक पाबंदियाँ लगी हुई थीं। ऊँची जातियों के हिंदू मुसलमानों के मामले में भी उन्हीं निषेधों का प्रयोग करते थे जिनका प्रयोग वे शूद्रों के संबंध में करते थे। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन जातीय निषेधों का मतलब यह नहीं था कि मुसलमानों तथा ऊँची जाति के हिंदुओं और शूद्रों में सामाजिक आदान-प्रदान बिल्कुल ही नहीं था। समय-समय पर हिंदू सिपाही मुस्लिम सेनाओं में भर्ती किए गए। ज्यादातर अमीरों के व्यक्तिगत कारिंदे हिंदू थे। शासन का स्थानीय तंत्र लगभग पूर्ण रूप से हिंदुओं के हाथों में रहा। इसलिए आपसी संबंधों के लिए अवसर काफी थे। इसलिए दोनों समुदाय अपने-अपने दायरे में सिमटे रहते थे और उनका एक-दूसरे से कोई संबंध ही नहीं था, इस तरह की तस्वीर न सही है और न ऐसा व्यवहारतः संभव ही था। इसकी पुष्टि उपलब्ध साक्ष्यों से भी नहीं होती। लेकिन हितों के टकरावों और सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताओं एवं आचार-विश्वास से संबंधित भेदों के कारण तनाव अवश्य पैदा होते थे और इससे आपसी समझ और सांस्कृतिक मेलजोल की प्रक्रियाएँ धीमी पड़ जाती थीं। इन बातों पर हम आगे के अध्याय में विचार करेंगे।

राज्य का स्वरूप

भारत में स्थापित तुर्क राज्य सैन्यवादी और कुलीनतांत्रिक था। आरंभ में तुर्क अमीरों ने राज्य के ऊँचे पदों से ताजिकों, अफ़गानों तथा अन्य ग़ैरतकी आप्रवासियों को अलग रखकर उन पर अपना एकाधिकार कायम करने की कोशिश की। यद्यपि तुगलकों के अधीन कुलीनवर्ग का आधार विस्तृत हो गया तथापि कुलीनता अब भी उच्च पद प्राप्त करने का महत्वपूर्ण पैमाना बना रहा। इसलिए मुसलमानों और हिंदुओं के विशाल आम वर्ग को ऊँचे पद प्राप्त करने का कोई अवसर उपलब्ध नहीं था। बेशक शहरों में निवास करने वाले मुसलमानों को सेना में भरती होने और राज्य की नौकरी पाने के बेहतर मौके हासिल थे। लेकिन व्यापार पर हिंदुओं का वर्चस्व था और ग्रामीण कुलीन वर्ग में वही लोग शामिल थे। इसके अलावा प्रशासन के निचले स्तर, जिनके सहयोग के बिना राज्य काम नहीं कर सकता था, हिंदुओं के हाथों में थे। इस प्रकार ग्रामीण हिंदू कुलीन वर्ग तथा शहरी प्रशासकों के बीच सत्ता में भागीदारी का मूक समझौता दिल्ली सल्तनत की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। निस्संदेह इन अलग-अलग वर्गों के बीच विशेष रूप से, उच्च वर्गों में बराबर झगड़े होते रहते थे। यद्यपि इन झगड़ों को अक्सर धार्मिक रूप दे दिया जाता था तथापि इनके बीच संघर्ष का बुनियादी कारण दुनियावी था – जैसे सत्ता या ज़मीन के लिए संघर्ष या ज़मीन से की पैदावार के अधिशेष में हिस्सेदारी के लिए ज़ोर-आजमाई। इन उद्देश्यों से मुसलमान आपस में भी झगड़ते रहते थे।

औपचारिक दृष्टि से देखें तो राज्य इस्लामी था। इसका मतलब यह था कि सुल्तान इस्लामी कानून के खुल्लमखुल्ला उल्लंघन की इजाजत नहीं देते थे और उलेमाओं (इस्लाम के धर्मतत्वज्ञों) को राज्य के लाभदायक पदों पर नियुक्त करते थे एवं उनमें से बहुतों को राजस्व-मुक्त भूमि दान में

देते थे। तथापि सुल्तान उलेमाओं को राज्य की नीति निर्धारित करने की छूट नहीं देते थे। हमें ऐसी जानकारी मिलती है कि इल्तुतमिश के दल ने सुल्तान के पास जाकर अर्ज़ किया कि वह मुस्लिम कानून पर सख्ती से अमल करे और हिंदुओं के सामने इस्लाम या मृत्यु में से किसी एक को चुनने का विकल्प रखे। सुल्तान की ओर से वज़ीर ने उन्हें उत्तर दिया कि यह अव्यावहारिक और अराजनीतिक होगा क्योंकि मुसलमानों की संख्या यहाँ दाल में नमक के बराबर है।

राजकाज चलाने के लिए सुल्तान को मुस्लिम कानून के अलावा अपनी ओर से ज़रूरी विनियम भी बनाने पड़ते थे, जिन्हें "ज़वाबित" कहा जाता था। अलाउद्दीन ख़लजी ने दिल्ली के आला काज़ी से कहा था कि मुझे नहीं मालूम कि क्या कानूनी है और क्या ग़ैर-कानूनी (अथवा शरीयत के अनुसार है या नहीं)। मैं तो राज्य की ज़रूरतों के मुताबिक नियम बनाता हूँ। यही कारण है कि इतिहासकार बरनी ने दिल्ली सल्तनत को सच्चा इस्लामी राज्य मानने से इनकार कर दिया। इसकी बजाय उसने उसे "जहाँदारी" या दुनियावी बातों को ध्यान में रखकर चलनेवाला राज्य बताया।

जहाँ तक हिंदू प्रजा का संबंध है, अरबों की सिंध-विजय के समय से ही उन्हें "ज़िम्मियों" का दर्जा बख्शा गया था, अर्थात् वे मुस्लिम शासन को कबूल लेने वाले और जजिया अदा करने पर सहमत संरक्षित लोग थे। जजिया वस्तुतः सैनिक सेवा के एवज में अदा किया जानेवाला कर था। अपनी-अपनी औकात और साधनों के मुताबिक अलग-अलग लोगों को यह कर अलग-अलग परिमाणों में देना पड़ता था लेकिन स्त्रियाँ, बच्चे तथा साधनहीन और विपन्न लोग इससे बरी थे। ब्राह्मण भी इससे मुक्त रखे गए, यद्यपि मुस्लिम कानून में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। आरंभ में जजिया की उगाही भूराजस्व के साथ की जाती थी। चूँकि सभी किसान हिंदू थे, इसलिए जजिया और भूराजस्व में भेद कर पाना मुश्किल था। बाद में फ़िरोज़ ने कई ग़ैरकानूनी महसूलों को समाप्त करते हुए जजिया को एक अलग कर का रूप दे दिया। उसने ब्राह्मणों पर भी यह कर लगा दिया। इसकी उगाही के लिए ज़िम्मेदार उलेमाओं ने कभी-कभी हिंदुओं को परेशान करने के लिए इसका इस्तेमाल करने की कोशिश की। परंतु जजिया अपने-आप में हिंदुओं को इस्लाम कबूल करने को मजबूर करने का उपकरण नहीं हो सकता था। आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन राज्य समानता पर नहीं, बल्कि विशेषाधिकारों पर आधारित था। तुर्कों के पूर्व राजपूत और किसी हद तक ब्राह्मण विशेषाधिकारों का उपभोग करने वाले वर्ग थे। उनका स्थान अब तुर्कों ने ले लिया था। बाद में तुर्कों के अलावा, ईरानी, अफ़गान और भारतीय मुसलमानों का एक छोटा-सा समूह, ये सब विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों में शामिल हो गए। मुसलमान धर्माधिकारी या उलेमा भी इन वर्गों के सदस्य थे। हिंदुओं का जो विशाल वर्ग पहले इस तरह के विशेषाधिकारों का उपभोग नहीं कर रहा था, उसकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में इस परिवर्तन से कोई बदलाव नहीं आया, बल्कि वह अपनी पहलेवाली शक्ल में ही कायम रही। इस प्रकार यद्यपि राज्य इस्लामी होने का दावा करता था तथापि वास्तव में वह सैन्यवादी और कुलीनतांत्रिक था। सल्तनत के अधीन धार्मिक स्वतंत्रता इसी संदर्भ में हम इस बात

ज़ा भी जायज़ा ले सकते हैं कि दिल्ली सल्तनत के अधीन गैर-मुसलमानों को कितनी धार्मिक स्वतंत्रता दी गई थी। विजय के आरंभिक दौर में कई नगरों को तहस-नहस कर दिया गया था। मंदिर आक्रमणकारियों के खास लक्ष्य होते थे जिसका कुछ कारण तो यह था कि वे अपने लोगों की निगाह में अपने हमलों का औचित्य साबित करना चाहते थे और कुछ मंदिरों की अकूत संपत्ति पर अधिकार करना होता था। इस काल में कई हिंदू मंदिरों को मस्जिदों में बदल दिया गया। इसका सबसे उल्लेखनीय उदाहरण कुतुबमीनार के निकट कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद है जो पहले विष्णु मंदिर था। इसे मस्जिद का रूप देने के लिए गर्भगृह को, जिसमें देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं, गिरा दिया गया और उसके सामने मेहराबों का एक आवरण खड़ा कर दिया गया तथा इन मेहराबों पर कुरान की आयतें उत्कीर्ण कर दी गईं। अहाते को घेरने के लिए कई मंदिरों से लाए गए स्तंभों का इस्तेमाल किया गया। बाकी अहाते को कमोबेश ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया गया। कई और जगहों में भी, जैसे अजमेर में, ऐसा ही किया गया। लेकिन जब इस देश में तुर्कों ने अपने पैर जमा लिए तो शीघ्र ही उन्होंने अलग से मस्जिदें बनवाना शुरू कर दिया।

मंदिरों तथा हिंदुओं, जैनों आदि के पूजा-स्थलों के प्रति नीति इस्लामी कानून (शरीअत) पर आधारित थी जो 'इस्लाम के बरखिलाफ' नए पूजा-स्थलों के निर्माण का निषेध करता था। लेकिन शरीअत में पुराने मंदिरों की मरम्मत की छूट थी "क्योंकि इमारतें हमेशा के लिए कायम नहीं रह सकतीं"। इसका मतलब यह भी था कि गाँवों में मंदिर बनवाने पर कोई रोक नहीं थी क्योंकि अब तक वहाँ मुसलमानों की आबादी कायम नहीं हो पाई थी। इसी प्रकार घरों के एकांत में मंदिर बनवाए जा सकते थे। परंतु युद्ध-काल में इस उदार नीति का पालन नहीं किया जाता था। युद्ध के समय में तो इस्लाम के शत्रुओं के खिलाफ, चाहे वे मनुष्य हों या देवी-देवता, लड़ना और उनका विनाश करना था। मगर शांतिकाल में तुर्कों के प्रदेशों में तथा जिन क्षेत्रों में राजाओं ने तुर्कों की अधीनता स्वीकार कर ली थी उन क्षेत्रों में हिंदू अपने धर्म का आचरण और उत्सव-आडंबर खुल्लमखुल्ला करते थे। बरनी के अनुसार जलालुद्दीन खलजी ने देखा कि राजधानी और सूबाई केंद्रों में भी खुलेआम मूर्तिपूजा की जाती थी और हिंदू धर्मग्रंथों के पाठों का प्रचार किया जाता था। उसने कहा, "हिंदू लोग मूर्तियों का यमुना में विसर्जन करने के लिए नाचते-गाते, ढोल बजाते हुए, जलूसों में शाही महल की दीवारों के पास से गुज़रते हैं और मैं चुपचाप देखता रह जाता हूँ।"

कट्टरपंथी उलेमाओं के एक वर्ग के दबावों के बावजूद न्यूनाधिक सहिष्णुता की यह नीति सल्तनत काल में कायम रही यद्यपि समय-समय पर इसमें बाधा भी पड़ी। कभी-कभी युद्ध-बंदियों को मुसलमान बना लिया जाता था या इस्लाम कबूल कर लेने पर अपराधियों को माफ़ कर दिया जाता था। फिरोज़ ने इस्लाम के रसूल के लिए अपशब्दों का प्रयोग करने के अपराध पर एक ब्राह्मण को प्राणदंड दे दिया था। दूसरी ओर मुसलमानों को हिंदू बनाने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। महान वैष्णव सुधारक चैतन्य ने बहुत से मुसलमानों को हिंदू बना लिया था अलबत्ता उलेमा लोग इस्लाम के त्याग को मृत्युदंड के योग्य

अपराध मानते थे।

कुल मिलाकर लोगों को मुसलमान बनाने का काम तलवार के ज़ोर पर नहीं किया जाता था। यदि ऐसा किया जाता तो सबसे पहले दिल्ली और उसके आसपास की हिंदू आबादी को मुसलमान बनाया गया होता। मुसलमान शासकों को यह एहसास था कि हिंदू धर्म इतना प्रबल है कि उसे तलवार के ज़ोर पर मिटाया नहीं जा सकता। दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी संत निज़ामुद्दीन औलिया ने एक बार कहा था - "कुछ हिंदू जानते हैं कि इस्लाम एक सच्चा धर्म है, लेकिन वे इस्लाम को कबूल नहीं करते।" बरनी भी कहता है कि हिंदुओं के खिलाफ बल-प्रयोग का उन पर असर नहीं होता।[1]

इस्लाम में धर्मांतरण का कारण राजनीतिक या आर्थिक लाभ का लोभ या अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार की संभावना थी। कभी-कभी जब कोई महत्वपूर्ण शासक या जनजातीय नेता मुसलमान बन जाता था तब उसकी प्रजा भी वैसा ही करती थी। सूफी संतों ने भी धर्मांतरण में कुछ भूमिका निभाई, यद्यपि आम तौर पर उनका इससे कोई सरोकार नहीं होता था और अपनी संगत में हिंदुओं एवं मुसलमानों - दोनों का ही वे स्वागत करते थे। अलबत्ता कुछ सूफी संतों के संत स्वभाव के कारण इस्लाम के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हुआ। लेकिन इस बात का कोई सबूत नहीं मिलता कि निचली जातियों के लोगों के खिलाफ हिंदू समाज में जो दुर्व्यवहार किया जाता था उसके कारण अथवा सूफी संतों के प्रभाव की वजह से हिंदुओं ने बड़ी संख्या में इस्लाम को कबूल कर लिया। इस प्रकार धर्मांतरण के कारण व्यक्तिगत, राजनीतिक और कुछ मामलों में (जैसे पंजाब, पूर्वी बंगाल आदि के संबंध में) क्षेत्रीय थे। कुछ क्षेत्रों जैसे कि पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल में अनेक जनजातियों जिनके अपने देवी-देवता थे, ने नियमित कृषि को अपनाया और कुछ समय के बाद मुसलमान बन गए।

पश्चिम एशिया पर मंगोलों के आक्रमणों के बाद मुसलमान परिवारों के बहुत-से लोग भाग कर भारत पहुँचे। अफ़गान लोग भी भारत में लगातार आकर बसते रहे। उनमें से काफ़ी सारे लोग तुर्क सेना में भरती हो गए या व्यापार में लग गए। लोदी शासन के अधीन पन्द्रहवीं सदी में और भी अफ़गान भारत आए। इस सबके बावजूद भारत में मुसलमानों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही रही। हिंदू-मुस्लिम संबंधों के स्वरूप तथा दोनों की सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ, जिनपर हम आगे के एक अध्याय में विचार करेंगे, परिस्थितियों के तकाज़ों से तय हुईं।

1. इस मतलबाने में उसने एक बहुत ही सुंदर रूपक का प्रयोग किया है : "जिस प्रकार आटा गूंधते समय उसमें से बाल को निकालकर अलग कर दिया जाता है उसी प्रकार उन्होंने इस्लाम को अपने हृदय से अलग कर दिया है।"

अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :
   मवाबित, जिम्मी, जहाँदारी, कारखाना, शरीअत
2. तुर्क सुल्तानों ने खलीफ़ा से मान्यता प्राप्त करने की कोशिश क्यों की? बाद के कुछ सुल्तानों ने इस नीति को क्यों बदल दिया?
3. सल्तनतकाल में सुल्तान की स्थिति का वर्णन कीजिए।
4. इक्तादार कौन थे और उनके मुख्य कर्तव्य क्या थे?
5. सल्तनत की शासन-प्रणाली में निम्नलिखित में से प्रत्येक पदाधिकारी के कर्तव्यों का वर्णन कीजिए :
   (क) वज़ीर, (ख) आरिज़-ए-मुमालिक, (ग) सदर, और (घ) बरीद।
6. सल्तनतकाल में देश के अंदर और बाहरी देशों के साथ चलने वाले व्यापार की मदों का वर्णन कीजिए।
7. सल्तनतकाल में समाज में व्यापारियों के स्थान का वर्णन कीजिए।
8. दिल्ली सल्तनत में अमीर वर्ग की स्थिति क्या थी? चौदहवीं सदी के आरंभिक दशकों में उनकी शक्ति के ह्रास के कारण बताइए।
9. "मध्यकालीन समाज घोर असमानताओं का समाज था।" समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों के जीवन स्तरों की तुलना करते हुए इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
10. सल्तनतकाल में समाज में स्त्रियों के स्थान का वर्णन कीजिए।
11. सल्तनतकाल में धार्मिक स्वतंत्रता के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
12. जज़िया कर का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। आबादी के किन वर्गों पर यह कर लगाया जाता था?
13. अलाउद्दीन खलजी ने आला काज़ी से कहा, "मैं नहीं जानता कि क्या कानूनी है और क्या ग़ैर-कानूनी, मैं तो राज्य की ज़रूरतों के मुताबिक नियम बनाता हूँ।" इस कथन से क्या अर्थ निकलता है? यह बात किस तरह राज्य की पहलेवाली अवधारणा से हटकर थी?
14. "दोनों समुदायों (हिंदू और मुसलमान) के लोग अपने-अपने दायरे में सिमटे हुए थे और उनका एक-दूसरे से कोई लेना-देना नहीं था. उनकी यह तस्वीर न तो सच्ची है और न व्यावहारिक।" सल्तनतकाल के संदर्भ में इस कथन पर विचार कीजिए।
15. सल्तनतकाल में राज्य के स्वरूप पर विचार कीजिए।
16. सल्तनत के केंद्रीय और स्थानीय प्रशासन को स्पष्ट करते हुए एक फ्लो-चार्ट बना कर प्रशासन की प्रत्येक इकाई और उस इकाई के लिए जिम्मेदार पदाधिकारी का निर्देश कीजिए।